Part-C, Chapter. 11

अध्याय --११

उपसंहार

प्रस्तुत प्रबन्ध में हिन्दी उपन्यास साहित्य के एक शतक का लेखा-जोखा देने का प्रयास किया गया है। प्रारम्भ में उपन्यास के रूपबन्ध पर विचार करते हुए सन् ६० तक की औपन्यासिक परम्परा को निर्दिष्ट किया गया है। तत्-पश्चात् सन् १९६० से सन् १९७७ तक के उपन्यास साहित्य का एक सीमा में रहकर विस्तृत अध्ययन किया गया है। पुनरुत्थानोत्तर औद्योगिक क्रान्ति से विकसित पूंजीवादी व्यवस्था ने जीवन की जटिलता को अनेक गुना बढ़ा दिया है। ऐसी स्थिति में मानव-जीवन एवं समाज-जीवन की जटिलता को उसके यथार्थ एवं समग्र रूप में सम्प्रेषित करने के लिए उपन्यास सर्वथा उपयुक्त संवाहक एवं सशक्त माध्यम के रूप में प्रतिष्ठित हुआ।

सैटेलाइट की गति से दौड़ते इस वैज्ञानिक युग की नित्य-नवीनता, परिवर्तनशीलता एवं नवीन मूल्यों की पुनर्स्थापना को रूपायित करने के लिए यद्यपि उसका रूपबन्ध कुछ लचीलापन लिए हुए है, तथापि उसमें लेखक का एक निश्चित जीवन-दर्शन देह में लावण्य की भांति आद्यन्त परिव्याप्त रहता है। संसार के श्रेष्ठ चिन्तक साहित्यकारों ने अपने विचारों के संवाहक के रूप में इस विधा को अंगीकृत किया है। प्रस्तुत प्रबन्ध के परिशिष्ट (म) में संलग्न साहित्यिक 'आलिम्पिक' जैसे नोबेल-पुरस्कार विजेता उपन्यासकारों की सूची से उपन्यास की गंभीरता एवं गरिमा स्वयमेव सिद्ध हो जाती है।

हिन्दी उपन्यास-साहित्य पर एक विहंगम दृष्टिपात करने से ज्ञात होता है कि सम्पूर्ण उपन्यास साहित्य असहमति का साहित्य (Literature of discard) है और आधुनिक युग के चिन्तन का एक व्यावर्तक लक्षण भी असहमति ही है। यह असहमति अपने परिवेश में व्याप्त जर्जरित जीवन-मूल्यों के प्रति है। अपने-अपने वर्तमान की समूची वास्तविकता को आत्मसात् करते हुए उपन्यासकारों ने स्थापित मूल्यों के प्रति अपने विद्रोह को बुलन्द किया है।

हिन्दी उपन्यास के इस एक-शतकीय कान्तार में प्रेमचन्दजी का स्थान एक उच्च शिखर के समान है, जहां से दोनों तरफ़ की औपन्यासिक परम्परा को साफ-साफ देखा जा सकता है। जिन आलोचकों ने यह लिखा है कि प्रेमचन्द ने हिन्दी उपन्यास को एक नया मोड़ दिया है या हिन्दी उपन्यास में आमूलचूल परिवर्तन किया है, उनकी दृष्टि पर कदाचित् बाबू गोपालराम गहमरी और देवकी-नन्दन खत्री छाये हुए हैं, परन्तु शायद वे पण्डित श्रद्धाराम फुल्लौरी, लाला श्रीनिवासदास, राधाकृष्णदास, बालकृष्ण भट्ट, अयोध्यासिंह उपाध्याय, मन्नन द्विवेदी प्रभृति के औपन्यासिक प्रदेय को विस्मृत कर जाते हैं। प्रेमचन्द का महत्व इसमें है कि उन्होंने इस चली आती परम्परा के बीच आये हुए गतिरोध को दूर कर उसे एक सुदृढ़ आधार प्रदान किया और अपनी अभूतपूर्व मानवीय संवेदना से उसमें प्राण-प्रतिष्ठा की। 'गोदान' हमारी औपन्यासिक यात्रा का प्रारम्भ नहीं, मध्यबिन्दु है। हिन्दी के एक असंदिग्ध शिल्प-स्वामी अज्ञेयजीने भी यह सहर्ष स्वीकार किया है कि प्रेमचन्दजी आज भी हमारे लिए प्रेरणा के ज्योति-स्तम्भ हैं: "साहित्यकार की संवेदना को, मानवीय चेतना को हमने अधिक विकसित या प्रसारित नहीं किया है।... प्रेमचन्द को हम पीछे छोड़ आये, यह दावा सार्थक उसी दिन होगा जिस दिन उससे बड़ी मानवीय संवेदना हमारे बीच प्रकट हो। उसके बाद ही हम कह सकेंगे कि प्रेमचन्द का महत्व ऐतिहासिक महत्व है। तब तक वे हमारे बीच में हैं, पुराने पड़कर भी समर्थ हैं, ~~साहित्यकार~~ साहित्य-संस्कार में गुरु-स्थानीय हैं और उनसे हमें शिक्षा ग्रहण करनी चाहिए।"[१]

प्रेमचन्दरूपी इस शिखर के इस पार उनकी परम्परा में सर्वश्री उपेन्द्रनाथ अश्क, अमृतलाल नागर, भगवतीचरण वर्मा, फणीश्वरनाथ रेणु, नागार्जुन, यशपाल, अमृतराय, हिमांशु श्रीवास्तव, डा० शिवप्रसाद सिंह, डा० रामदरश मिश्र, डा० राही मासूम रज़ा, शानी, जगदीशचन्द्र, जगदम्बाप्रसाद दीक्षित प्रभृति उपन्यासकार आते हैं। इन रचनाकारों ने अपेक्षाकृत जीवन के व्यापक फलक को आधार बनाया है। एक ओर जहां इनमें व्यापकता है, दूसरी ओर चिन्तन व अनुभूतियों की गहराई भी है। यह एक भ्रामक धारणा है कि व्यापकता में गहराई नहीं होती। समुद्र व्यापक भी होता है, गहरा भी।

---

१. 'हिन्दी साहित्य : एक आधुनिक परिदृश्य' : पृ० ६६।

हमारे अध्ययन की विशिष्ट परिधि में आनेवाले उपन्यासकारों का एक वर्ग उपन्यास में वस्तु-पक्ष की अपेक्षा शिल्प-पक्ष पर अधिक बल देता है। सर्वश्री जैनेन्द्र, अज्ञेय, डा० देवराज, डा० रघुवंश, मोहन राकेश, राजेन्द्र यादव, रमेश बक्षी, कमलेश्वर, राजकमल चौधरी, कृष्णा सोबती, उषा प्रियंवदा, मन्नू भण्डारी, गिरिराज किशोर, शिवानी, लक्ष्मीकान्त वर्मा प्रभृति उपन्यासकार इस वर्ग में आते हैं। शिल्प एवं भाषा की अभिव्यंजना-शक्ति को नये आयाम प्रदान करने में उनका योगदान निश्चित रूप से श्लाघनीय है जिसे हम यथास्थान लक्ष्य कर चुके हैं। व्यापक समाज की अपेक्षा उनका ध्यान एक सीमित सामाजिक परिवेश के परिप्रेक्ष्य में व्यक्ति-मन पर अधिक केन्द्रित रहा है। अतः उनके लेखन में अन्तर्मुखी चरित्रों की प्रधानता के कारण रहस्यमयता, सूक्ष्मता, सांकेतिकता एवं प्रतीकात्मकता का आधिक्य मिलता है। बिखरे हुए कथा-तन्तुओं को पाठक संजोता और जोड़ता हुआ चलता है, अतः जहां सामान्य पाठक इन आवर्तों में खोकर रोचकता की अपेक्षा करने लगता है वहां प्रबुद्ध पाठक को कल्पना की यह जिमनैष्टिक सृजन का आनन्द भी देती है।

आधुनिक विज्ञान की समग्र चेतना ; मार्क्स, एंजिल, लेनिन, माओ, गांधी, सार्त्र, कामू, जैसे प्रखर विचारकों का गहन चिन्तन तथा फ्रायड, एडलर, जुंग, पावलोव, हेवलोक एलिस, मैकडूनल प्रभृति मनोवैज्ञानिकों के सिद्धान्तों की सान ने आधुनिक उपन्यासकारों की कल्पना की धार को अधिक प्रखर बनाया है। अतः एक ओर जहां वह सामाजिक आर्थिक विषमता की विभीषिका से पीड़ित निम्न दलित सर्वहारा वर्ग की मानवीय चेतना को उद्बुद्ध करता है, वहां दूसरी ओर वह मनुष्य के अवचेतन के जटिल गह्वरों में प्रवेश कर उनकी गुत्थियों को समझने-समझाने का प्रयास भी कर रहा है।

गजानन माधव मुक्तिबोध की दो पंक्तियां हैं :

" ज़िन्दगी के कीचड़ में धंसकर
मुझे लाना है तोड़कर कमल का फूल।"

हमारे उपन्यासकार भी जहां ज़िन्दगी के कीचड़ से मानवीय संवेदना रूपी कमल के फूल खिला सके हैं, वहां उनका कृतित्व निखर उठा है। `अलग अलग वैतरणी`, `आधा गांव`, `जल टूटता हुआ`, `धरती धन न अपना`, `मुरदाघर`, `सफेद मैमने`, `अन्धेरे बन्द कमरे`, `डाक बंगला`, `पचपन खम्भे लाल दीवारें`, `आपका

बण्टी`,` काला जल`,` छाया मत छूना मन`,` नदी फिर बह चली` प्रभृति रचनाएं हमारे मन को मथकर मानवीय दर्द से सरोबार कर देती है। इस मानवीय दर्द के अभाव में केवल शिल्प की बैसाखियों पर खड़ी रचनाएं हमारी कल्पना और बुद्धि को प्रभावित तो करती हैं पर हमारे सम्पूर्ण व्यक्तित्व पर छाने की क्षमता उनमें नहीं होती।` यात्राएं`,` बैसाखियोंवाली इमारत`,` सूरजमुखी अन्धेरे के` सीमाएं टूटती हैं` प्रभृति उपन्यासों को इस कोटि में रखा जा सकता है, वैसे उपन्यास-साहित्य की उपलब्धियों के विचार से ऐसी कृतियों की संख्या अधिक नहीं है।

एक और भ्रामक धारणा हिन्दी के कुछ आलोचकों में आधुनिक भावबोध को लेकर है। उनके विचार में आधुनिक भावबोध केवल नगरीय परिवेश के उपन्यासों में अधिक उभरकर आया है। यहां इतना स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि आधुनिक भावबोध केवल शैली-शिल्प में, आधुनिक फैशनेबुल दुनिया की कुछ चीज़ों के उल्लेख में, शराब के अपरिचित नामों और महानगरों के प्रसिद्ध रेस्टोरां के नामोल्लेख मात्र में नहीं है। इसका उत्तर भी ठीक इस पर निर्भर करता है कि क्या हम किसी आधुनिक लेटेस्ट फैशनों से सज्ज व्यक्ति को आधुनिक कहेंगे या सादा पर विश्व के अधुनातम वैचारिक प्रवाहों से परिचित व्यक्ति को ? निश्चय ही आधुनिक भावबोध का सम्बन्ध विचारों की आधुनिकता से है। नागार्जुन के `इमरतिया` और `उग्रतारा`, शानी का `सांप और सीढ़ी` तथा मणि मधुकर का `सफेद मेमने` अपेक्षाकृत पिछड़े हुए परिवेश पर आधारित उपन्यास होने के बावजूद आधुनिक भावबोध से संयुक्त हैं।

ऐसा ही एक भ्रान्तिपूर्ण विचार रचनाकार की साहित्यिक निरपेक्षता को लेकर चल रहा है। रचनाकार का अपनी ज़मीन से जुड़ना और साहित्यिक निरपेक्षता इन दोनों को कुछ लोग परस्पर विरोधी मानकर चलते हैं। जबकि साहित्यिक निरपेक्षता का अर्थ यह कतई नहीं कि रचनाकार अपनी ज़मीन, अपनी मिट्टी, अपने परिवेश से न जुड़ें। बल्कि इसके बिना तो कोई भी महान रचना सम्भव ही नहीं है। जिस रचनाकार का संघर्ष अधिक पैना, अधिक जवान होता है, वह अपनी रचना में दर्द के मणि की ज्योति को बिखेर सकता है। डा० रामविलास शर्मा के शब्दों में `साहित्य व्यक्ति की अभिव्यक्ति नहीं वरन् व्यक्ति द्वारा वृहत् की अभिव्यक्ति है।` (आस्था और सौन्दर्य : पृ० २४५)

अस्तु व्यष्टि अनुभव जब समष्टि का रूप धारण करता है तब रचनाकार के धैर्य, विवेक एवं गम्भीरता की परीक्षा होती है। साहित्यिक निरपेक्षता का प्रश्न भी यहीं से जुड़ता है। इसके अभाव में कृति `रचना` के गरिमामण्डित पद से अपदस्थ हो होकर आत्मसंलाप मात्र रह जाती है। `धरती धन न अपना` तथा `मुरदाघर` के लेखक अपने परिवेश से शत-प्रतिशत संपृक्त रहते हुए भी निरपेक्षता का निर्वाह कर पाये हैं और यह उनकी सर्वाधिक उल्लेखनीय उपलब्धि भी है। वस्तुत: प्रत्येक यथार्थवादी रचना निरपेक्ष होती है। निरपेक्षता चुके कि अयथार्थ का निर्माण हुआ। निरपेक्षता में समग्रता का भी गुण होता है। यही कारण है कि `राग दरबारी` अपने समूचे व्यंग्यात्मक सौष्ठव के बावजूद यथार्थवादी रचना नहीं बन पायी है। `राग दरबारी` में वर्णित सभी प्रसंग, सभी पात्र, सभी स्थितियां यथार्थ हैं। परन्तु राग दरबारी` में जो वर्णित है उसके परे भी बहुत कुछ है। लाख हरामीपन में पक जाने के बावजूद अभी गांवों में बहुत कुछ ऐसा है जिसे श्रीलाल शुक्ल की एकांगी दृष्टि ने नज़रअन्दाज़ किया है। वस्तुत: लेखक का उद्देश्य वहां एक सर्वांगपूर्ण व्यंग्यात्मक रचना देना है, अत: वह दृष्टि की समग्रता और निरपेक्षता का निर्वाह नहीं कर सका है। `राग दरबारी` ग्रामीण जीवन का दस्तावेज़ नहीं वरन् हास्य-व्यंग्य का एक `अलबम` है जिसके सभी चित्र व्यंग्य-चित्रकार की तूलिका से खींचे गये हैं।

अस्तु, प्रस्तुत प्रबन्ध में हमने प्रेमचन्द के उस पार और इस पार को देखने की चेष्टा की है। हमारे प्रयत्न और शक्ति की अपनी सीमाएं हैं। शोध की दिशा में उठाया गया यह कदम तो एक लघु-प्रयास मात्र है। इसी क्षेत्र में घनीभूत अध्ययन के नये क्षितिजों का अनुसन्धान किया जा सकता है। प्रेमचन्द के सम्बन्ध में एक अध्याय दिया गया है, परन्तु उसी के आधार पर `प्रेमचन्द के युगीन-संघर्ष के परिप्रेक्ष्य में उनका कथा-साहित्य` इस विषय पर गंभीर अध्ययन एवं अनुसन्धान किया जा सकता है। इधर साठ के बाद के उपन्यासों पर भी एक-एक पहलू को लेकर महत्वपूर्ण अध्ययन की दिशाएं प्रशस्त की जा सकती हैं; उदाहरणार्थ: `व्यंग्यात्मक उपन्यास : वस्तु और शिल्प`, `नगरीय परिवेश पर आधारित उपन्यास`, `ग्राम-भित्तीय उपन्यास : वस्तु और शिल्प`, `बदलते जीवन मूल्यों के परिप्रेक्ष्य में साठोत्तरी उपन्यास`, `ग्राम-भित्तीय उपन्यास : लोकजीवन के विभिन्न आयाम`, `स्वातन्त्र्योत्तर उपन्यासों में हरिजन समस्या`

आदि आदि । प्रस्तुत अध्ययन द्वारा लेखक इस सम्भावना से पूर्णतया सहमत है कि साठोत्तर उपन्यास साहित्य की दो-एक धाराओं में विस्तृत एवं गम्भीर अध्ययन प्रस्तुत किये जा सकते हैं ।

आज हिन्दी के उपन्यास लेखन का क्षेत्र पहले की तुलना में पर्याप्त विस्तृत हो चुका है । हिन्दी भाषी क्षेत्रों में स्वतन्त्रता के पश्चात् शिक्षा का क्षिप्र प्रचार, अहिन्दी भाषी क्षेत्रों के लेखकों का हिन्दी लेखन के प्रति आकर्षण तथा अनेक प्रतिष्ठित साहित्यकारों द्वारा अपनी प्रतिभा और साधना का योगदान इसके लिए बहुत कुछ उत्तरदायी है । हिन्दी के उपन्यासों का भारतीय भाषाओं में ही नहीं रूसी अंग्रेजी आदि विश्व-भाषाओं में भी अनुवाद तथा हिन्दी में भारतीय तथा विदेशी भाषाओं की श्रेष्ठ औपन्यासिक कृतियों के अनुवादों की बढ़ती हुई विशाल संख्या साहित्य सर्जन और शिल्प-विन्यास में अन्तरावलम्बन की परिस्थिति का निर्माण कर दिया है । यह कहा जा सकता है कि ऐसी अनुकूल भूमिका में औपन्यासिक कृतियों का लेखन भविष्य में आज से कहीं गुना बढ़ना ~~अवश्यम्भा~~ अवश्यम्भावी है । यह स्वाभाविक स्थिति अध्ययन की नयी दिशाओं, नये क्षेत्रों, तुलनात्मक अध्ययन के विविध पक्षों तथा मूल्यांकन और पुनर्मूल्यांकन अध्ययन-पक्षों का का भविष्य उद्घाटित करेंगे । लेखक का अपना विश्वास है कि इससे अध्ययन, शोध, साहित्यिक मूल्यांकन एवं सर्जन की नयी भूमियों का अवश्य निर्माण होगा । शोध-गत विषय-सीमा, समय की प्रतिबद्धता एवं आरम्भिक अनुशीलन की क्षमता आदि की सीमाएं सभी के साथ जुड़ी रहती हैं और रहती रही हैं, अतः लेखक निःसंकोच रूप में यह स्वीकार करता है कि वह भी उक्त स्थितियों से किसी न किसी रूप में आबद्ध रहा है ।